Chap-1

प्रथम अध्याय

भारतीय परम्परागत रंगमंच

एक पृष्ठभूमि

क. भारतीय परम्परागत रंगमंच।

ख. वैदिक काल का रंगमंच ।

ग. प्राचीन नाट्यशाला के विभाग ।

घ. बौद्धकाल ।

ङ. संस्कृत काल ।

च. लोककला एवं लोकरंगमंच।

भारतीय परम्परागत रंगमंच एवं पृष्ठभूमि

नाटक विधा के बारे में कहा गया है कि नाटक रचना के लिये बुद्धितत्व, भावतत्व, रचना कौशल, अभिनय तत्व तथा पात्र के मानस की गहराई में उतर जाने की अद्‌भूत सूक्ष्म दृष्टि एवं हृदय की उदात्तता अपेक्षित है। नाटक केवल रचना नहीं है, वह सच्चे अर्थों में एक कला है। 'काव्येषु नाटक रम्यम्' कहकर भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक की महिमा प्रतिपादित की गई है। नाटक एक ऐसी कला है जिसमें प्राय: सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। आचार्य भरत मुनि ने कहा है -

'न स योगो न तत्कर्म नाट्यऽस्मिन, यन्न दृश्यन्ते ।

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्मापि विविधानि च।'

अर्थात् योग, कर्म, शास्त्र, साहित्य, समस्त शिल्प और संसार के विभिन्न कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में दिखाया ना जा सके। लोकहित और लोकरंजन की दृष्टि से साहित्य के समस्त रूपों में नाटक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

नाटक मूलत: अभिनय की कला है और रंगमंच के साथ उसका सीधा सम्बन्ध है। प्राचीन काल से लेकर हिन्दी के आधुनिक रंगमंच तक विकास के विभिन्न चरणों की एक लम्बी परम्परा है। भरत का नाट्यशास्त्र नाटक एवं रंगमंच पर लिखा एक वृहद ग्रंथ इस बात का सूचक है कि नाट्य रंगमंच की समझ उसके विकसित स्वरूप को एक समृद्ध परम्परा भारत में विद्यमान थी।

हिन्दी का रंगमंच उत्तरोत्तर विकसित हो साठवें दशाक में आकर और उसके उत्तरोत्तर उसने कैसा स्वरूप ग्रहण किया उस पर शोधपरक दृष्टि डालना इस अध्ययन का मूल ध्येय है।

साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में रंगमंच के स्वरूप पर सम्यक प्रकार से अध्ययन के लिए भारतीय परम्परागत रंगमंच के स्वरूप का अनुशीलन आवश्यक है। प्राचीन

भारतीय परम्परा में काव्य को दृश्य एवं श्रव्य दो रूपों में विभक्त किया गया है। दृश्य काव्यों में भी नाटक एक अलग ही विलक्षण विधा है, क्योंकि इसमें भाषा के साथ भाषेत्तर माध्यम भी उतनी की क्षमताओं के साथ संयुक्त रहते हैं तथा दृश्यता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि नाट्य साहित्य का आनंद पढ़कर भी उठाया जा सकता है, किन्तु वाचिक क्रिया पर आधारित उसकी अनेक विशेषताओं को मात्र रंगमंच पर अभिनीत होने पर ही जाना जा सकता है। यद्यपि नाट्य में भाषिक माध्यम मूल तत्व है किन्तु उसके लिये ऐसी भाषा आवश्यक है जो हरकत क्रिया व्यापार, चेष्टाओं और हाव-भावों से संयुक्त हो, इन्हें हम भाषेत्तर माध्यम कह सकते हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र में अभिनय के संदर्भ में इन भाषेत्तर माध्यमों की विस्तार से चर्चा की गयी है। इन्हीं सब माध्यमों से भाषा के स्तर पर जब नाटक का एक समग्र अर्थ (कथ्य) उभरकर आता है तो रसानुभूति का आधार बनता है। उसमें भाषा एवं भाव का एक दुहरा सम्बन्ध स्थापित होता है, जहाँ भाव की गति भाषा की ओर तथा भाषा की गति भाव की ओर होती है। इसलिए कभी भाषा की संरचना भाव की संरचना को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। आचार्य भरत ने इसलिए नाट्य के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है कि - "नाट्यम भावानुकिर्तनम्।'[1]
कालिदास की दृष्टि में भी 'भाव, रस एवं अभिनय इन तीनों का समन्वय ही नाट्य है।"[2]

वस्तुतः नाटकों में नटों द्वारा रंगमंच पर अभिनीत मानवजीवन का जो विविध रूप हमें देखने को मिलता है उसमें सुख भी है, दुःख भी है, भलाई भी है, बुराई भी है, प्रेम भी है, घृणा भी है, उत्थान भी है, पतन भी है और क्या कुछ नहीं है? किन्तु जो कुछ भी है वह मात्र भावों का अनुकीर्तन ही है। कालिदास ने नाट्य की इसी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। भाव के लिये भाषा की ओर तथा भाषा के पीछे भाव का अन्वेषण अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के विवेचन से भी यही बात प्रमाणित होती है। आधुनिक वैज्ञानिक व्योगत्सकी ने भी यही

विचार व्यक्त किया है कि "रंगमंच शब्द के पीछे छिपे अर्थ (भाषा) की समस्या से जूझता रहता है।"[3] किन्तु "आंगिक अभिनय के संदर्भ में जैसा वर्णन करण, चारी, अंगहार मुद्रा आदि के रूप में भारतीय नाट्यशास्त्र में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।"[4] वृत्तियों का महत्व तो और भी अधिक है क्योंकि इनका सम्बन्ध किसी एक प्रकार के अभिनय के साथ न होकर सभी प्रकार के अभिनयों के साथ रहा है। इस प्रकार नाट्य के भाषेत्तर माध्यमों में सबसे महत्वपूर्ण वृत्तियाँ मानी जा सकती है जो रंगमंच पर समस्त कायिक, वाचिक व मानसिक तीनों व्यापारों को अभिव्यक्त करती है। अतः भारतीय परम्परागत रंगमंच के वास्तविक स्वरूप का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण यहाँ आवश्यक है।

भारतीय परम्परागत रंगमंच :

भारतीय नाट्य साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि नाटकीय तत्वों के बीज वैदिक काल से भी प्राचीन हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति प्रयोजन आदि का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया गया है। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नाटक की उत्पत्ति त्रेतायुग में ब्रह्मा के द्वारा हुई। सतयुग में प्रायः लोगों को मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता न थी किन्तु त्रेतायुग में जब इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई और साथ ही शूद्रों के निश्रेयस की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा, तो इन्द्रादि देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की, कि वे ऐसे पंचम वेद का निर्माण करें जो क्रीडनीयक हो अथवा वह खेला जा सके, देखा जा सके,और सुना भी जा सके, एवं शूद्रों द्वारा जिसका अनुशीलन भी किया जा सके, क्योंकि उनके लिये वेदाध्ययन निषिद्ध था। ब्रह्मा ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर और अपना ध्यानावस्थित होकर चारों वेदों का स्मरण किया और संकल्प किया कि ऐसे पंचम वेद की रचना की जाय जो धर्मानुकूल, यशस्य, संग्रह और उपदेश सहित हो। यह नाट्य वेद दुःख, थकावट से तथा शोक से पीड़ित दीन-दुःखियों के लिये सुख देनेवाला होगा। भावी जगत के लिये सर्वकर्मों का पथप्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न तथा सभी प्रकार की शिल्पकलाओं का प्रदर्शक होगा। इन कारणों

से ब्रह्मा ने पाठ्य भाग ऋग्वेद से, गीतों को सामवेद से, अभिनय को यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया।

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदोत्सामथ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदाद भिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"[5]

इस प्रकार के इतिहास को समेटकर जिस 'नाट्यवेद' की प्रतिस्थापना ब्रह्मा ने की वह देवताओं के हाथ में सौंप दिया, किन्तु जब देवताओं ने फिर से नाट्यकर्म में अपने को अक्षम पाया तो इस पर ब्रह्मा ने कौशिकी वृत्ति के लिये, जो केवल स्त्रियों द्वारा ही सुसम्पन्न हो सकती है, ऐसी सौ अप्सरायें उत्पन्न कर भरत को सौंप दीं कि वे इन्हें तथा अपने सौ शिष्यों को नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा दें। 'विश्वकर्मा' को इसके अभिनय के लिये नाट्यगृह निर्माण करने का आदेश दिया गया। इस नाटक में शिव ने ताण्डव, पार्वती ने लास्य तथा विष्णु ने चार नाट्य शैलियाँ प्रदान कर इसके आकर्षण सौन्दर्यवर्द्धन को और सुसम्पन्न होने में सहायता प्रदान की।

भारतीय नाट्य परम्परा जितनी प्राचीन है वहीं रंगमंच की परम्परा भी विश्व के किसी भी राष्ट्र की परम्परा से कम प्राचीन नहीं है। प्राचीन मानव-समुदायों की भाँति ही भारत में नाट्यकला और रंगमंच का विकास संस्कृति के विकास के साथ ही हुआ। विक्रम संवत के प्रारंभ के आसपास भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' प्रमाणित करता है कि उस समय नाट्यकला इतनी विकसित हो गई थी कि उसके अनुशासन के लिये शास्त्र का निर्माण आवश्यक हो उठा था।

'नाटक' आखिर है क्या? और यह विधा कहाँ से आई? और इसका प्राचीन रूप क्या था? इस विषय पर भी यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

वैदिक काल का रंगमंच :

भरत मुनि के पहले हमें भारतीय नाटकों का पूर्वतम रूप वैदिक संवाद सूक्तों में मिलता है। ऋग्वेद में ही पन्द्रह संवाद सूक्त मिलते हैं। जिनमें आख्यान और

नाटकीय कार्य व्यापार की कुछ झलक मिलने के कारण विद्वानों ने नाटक का पूर्व रूप माना है। इन संवाद सूक्तों में पात्रों के प्रश्न-उत्तर बड़े स्पष्ट और नाटकीय हैं। पुरूरवा-उर्वशी का संवाद अत्यंत नाटकीय स्थिति में प्रारंभ होता है। पर्याप्त समय तक साथ होने के पश्चात उर्वशी-पुरूरवा के पास से सदा के लिये जा रही है, पुरुरवा उसके विरह से आशांकित होकर जो संवाद कहता है, उनमें बड़ी मार्मिकता और करुणा है। पुरुरवा और उर्वशी का यह प्रेमाख्यान लगभग सौ-दो सौ वर्षों के पस्चात संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास के 'विक्रमोर्वशियम्' नाटक की कथावस्तु बना।

यम-यमी संवादों में यमी के आवेशपूर्ण कथनों और यम के अनोखे संयम के कारण उन चारित्रों के मध्य नाटकीय स्थिति प्रारंभ होती है।

विश्वामित्र-नदी संवाद ऐतिहासिक संकेतों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें नदी का मानवीकरण करते हुए अत्यन्त काव्यात्मकता का समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त नेमा भार्गव और इन्द्र संवाद, सरमा-पाणि संवाद तथा अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद सूक्तों में निर्विवाद रूप से नाटकीय कथोपकथन के बीज विद्यमान हैं।

संस्कृत का सबसे प्रथम नाटक 'त्रिपुरदाह' माना जाता है। यह कथा भी शिव से सम्बन्धित है। असुर नगरों का ध्वंस शिव के द्वारा हुआ था। वैसे भी शैवागमों के अनुसार 'इच्छा', 'ज्ञान', 'कर्म' का शमन कर भक्त आनन्द की ओर प्रेरित होता है और ये तीनों 'त्रिपुर' कहलाते हैं। इन आसुरी वृत्तियों के नाश होने पर ही 'चिदानन्द' की प्राप्ति संभव है। अतएव कथा के मूल में शिव की आराधना और देवता रूप में उनकी महत्ता का प्रमाण स्वतः सम्मिलित है।

इन सबके अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्ड में कुछ ऐसी लीलाएँ और होती थीं जिनको नाटक कहना उचित ही होगा, जैसे उदाहरण के लिये 'सोमक्रमण' की घटना

को ले सकते हैं। "सोमयज्ञ के प्रारंभ में एक शूद्र सोम बेचने के लिये आता है, और मोल के पश्चात मूल्य देकर वह सोम खरीद लिया जाता है, परन्तु अन्त में वह मूल्य भी उससे छीन लिया जाता है। बेचारा शूद्र उसी प्रकार हाथ मलता रह जाता है, जिस प्रकार मधु लूट लिये जाने पर मधु-मक्षिका।"

इस लीला में संघर्ष, कथोपकथन, अभिनय तथा वस्तु विकास की विविध अवस्थाएँ आदि नाटकीय कथानक के आवश्यक अंग हैं। अतः यह तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि नाट्य रचना का सूत्रपात तो भारत में ही हुआ और इसके सूत्र हमें ऋग्वेद में भी वर्तमान में देखने को मिलते हैं। भरतमुनि का यह वाक्य प्रमाणित भी करता है- "जग्राह पाठं ऋग्वेदात।"[6] हरिवंश पुराण में तो नाटक खेले जाने का संकेत मिलता ही है, नाट्यशास्त्र में भी अपने उद्भव काल में नाटक और यज्ञ के इस अभिन्न सम्बन्ध का प्रमाण मिलता है।

देवासुर संग्राम में असुर और दानवों की पराजय के पश्चात होने वाले महेन्द्र विजयोत्सव में नाट्य प्रयोग का वर्णन मिलता है। इसमें नांदी में देवों द्वारा दैत्यों पर प्राप्त विजय के अनुकरण का समावेश है।

"अत्रेदानामयं वेदो नाट्यसज्ञः प्रयुष्ताम् ।
ततस्तास्मिन ध्वजमहे निहतासरदानवे ॥
प्रहष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवें।
पूर्वकृता मया नान्दी आशीवचन संयुक्ता ॥
अष्टांग पद संयुक्ता विचित्रा देव समता।
तदन्तेऽनुक्रतिर्वद्धा यथा दैव्याः सुरोर्ज्जिता।"[7]

यानि नांदी के पश्चात जो नाटक अभिनीत किया गया था उसमें भी देवों द्वारा दैत्यों और दानवों का विनाश दिखाया गया है।" एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्य दानवे नाशने।"

कहा जाता है कि इस अभिनय से असुर लोग अप्रसन्न हुए और उन्होंने विघ्न करना

आरंभ कर दिया। परन्तु इन्द्र ने वहाँ गड़े हुए अपने ध्वज को उठाकर उससे सारे विघ्नकारी असुरों को नष्ट कर दिया, यह देखकर सारे देवता प्रसन्न हुए और प्रसन्नचित्त होकर बोले "तुम्हारे दिव्यशास्त्र को धन्यवाद है, इसने सारे दानवों के सभी अंग जर्जर कर डाले हैं। अतः इसने सारे विघ्नों और असुरों को जर्जर कर डाला है। इसलिये इसका नाम 'जर्जर' होगा और जो भी हिंसक बच रहे हैं वो हिंसा के प्रयोजन से आने पर इस 'जर्जर' को देखकर इसी अवस्था को प्राप्त हो जायेंगे।"[8]

कहा जाता है कि उक्त 'जर्जर' नाम का यह इन्द्रध्वज असुरों से रक्षा करने के लिये ही रंगशाला में स्थापित किया जाता था। उस समय से लेकर पश्चात तक असुरों से रंगशाला की रक्षा के लिए 'जर्जर' की स्थापना होती थी, जो बाँस का बना होता है। यज्ञों में भी स्थापित यूपों का भी प्रायः यही उद्देश्य था।

"जब यज्ञों में हिंसा का प्रयोग होने लगा तो इन 'यूपों' को पशु बाँधने के काम में भी लिया जाने लगा जिसके कारण इस 'यूप' की आकृति भी कुश विशेष प्रकार की होने लगी। 'यूप' को प्रायः इन्द्र का वज्र भी कहा गया था और फलतः इसका विघातक रूप नाट्यशास्त्र के 'जर्जर' ध्वज से पूर्णतया मिलता था।"

'यूप' के अनुकरण स्वरूप ध्वज को स्थापित करने की प्रथा केवल नाट्यशालाओं में ही नहीं, अपितु नाटक की भाँति ही वैदिक साहित्य तथा वैदिक कर्मकाण्ड से उद्भूत और प्रभावित क्रियाओं में भी प्राप्त थी।

"देवासुर-संग्राम, महेन्द्र-विजय तथा युपोपम जर्जर-ध्वज के साथ-साथ यदि वेद व्यवहार को सार्ववार्किक बनाने का नाटक का नाट्यशास्त्रोक्त उद्देश सामने होता तो स्पष्ट हो जायेगा कि जिस नाटकीय परम्परा के लिये नाट्यशास्त्र लिखा गया था, उसका जन्म परिवर्द्धन तथा परिष्कार, वैदिक दर्शन, साहित्य तथा कर्मकाण्ड के उदात्त और ओजस्वी उत्संग में हुआ और नाटकीय प्रयोगों से सम्बन्ध रखनेवाली

अनेक धार्मिक क्रियाओं का उद्भाव भी वैदिक कर्मकाण्ड से हुआ।"[8]

"जिस प्रकार वैदिक यज्ञ तथा उसके कर्मकाण्ड बदलते गये वैसे ही उनसे सम्बन्धित नाटकों का रूपान्तरण होता चला गया। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रसिद्ध वह 'वेदवाद' है, जिसमें उत्तरोत्तर जटिलता को प्राप्त होने वाले वैदिक यज्ञों में हिंसा तथा भोगेश्वर्य लिप्सा का प्राधान्य हो गया और जिसका विरोध न केवल बाईस्पत्य, जैन और बौद्ध आदि तथा कथित दर्शनों में किया, इसके अलावा श्रीमद्भावगत्गीता तथा उससे भी पहले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों, अरण्यकों तथा उपनिषदों ने भी किया।"[9]

प्राचीन नाट्यशाला के विभाग :

नाट्यशास्त्र में नाटकों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वहीं रंगशाला का वर्णन भी इसमें किया गया है, जहाँ उस समय नाटक खेलने का प्रबंध किया जाता था। रंगशाला को प्रेक्षागृह भी कहा जाता था, जो तीन प्रकार के हुआ करते थे। प्रथम् प्रकार का प्रेक्षागृह विकृष्ट कहलाता था जो अण्डाकार और लम्बाई में एक सौ आठ हाथ होता था। ऐसी नाट्यशालायें देवताओं की होती थीं। दूसरे प्रकार का प्रेक्षागृह इन नाट्यगृहों को तीन भागों में विभक्त किया गया है। "समवकार नाट्य के समान जो नाटक हों जिनमें सूर और असुरों की लड़ाईयाँ एवं कलह आदि दर्शाने हों, तो उन नाटकों के लिये ज्येष्ठ नाट्यगृह का उपयोग करना चाहिए। मध्यम नाट्यगृहों का उपयोग उन रूपकों के लिये करना चाहिये जिनमें लड़ाइयाँ आदि विशेष रूप से न हों। जहाँ एक ही पात्र का अभिनय हो, वहाँ कनिष्ठ नाट्यगृह का प्रयोग करना चाहिये।"[10]

चतुरस्त्र होता था। आकार में यह भी अण्डाकार ही होता था और यह प्रेक्षागृह राजाओं का होता था। तीसरे प्रकार की नाट्यशाला त्रयस्त कहलाती थी, जो समभुज त्रिकोणाकार होती थी। यह ग्रहस्थ नागरिकों की नाट्यशाला थी। नाट्यगृहों की व्यवस्था व विस्तार निम्न प्रकार से था -

1.	विकृष्ट	ज्येष्ठ नाट्यगृह 102 हाथ	54 हाथ
		मध्यम नाट्यगृह 64 हाथ	32 हाथ
		कनिष्ठ नाट्यगृह 32 हाथ	16 हाथ
2.	चतुरस्त्र	ज्येष्ठ नाट्यगृह 102 हाथ	108 हाथ
		मध्यम नाट्यगृह 64 हाथ	64 हाथ
		कनिष्ठ नाट्यगृह 32 हाथ	32 हाथ
3.	त्रयस्त	ज्येष्ठ नाट्यगृह तीनों भुजायें	108 हाथ
		मध्यम नाट्यगृह तीनों भुजायें	64 हाथ
		कनिष्ठ नाट्यगृह तीनों भुजायें	32 हाथ

तीनों प्रकार की नाट्यशालाओं के आधे भाग में दर्शक बैठते थे। विभिन्न वर्णों के बैठने के लिये जो स्थान होता था, वह विभिन्न रंग के खम्भों में विभाजित किये जाते थे। आधुनिक गेलरी की भाँति एक के बाद दूसरा आसन बनाया जाता था जो क्रमशः आनेवाले आसन से एक-एक हाथ ऊँचा होता था। सबसे आगे वाले आसन पर ब्राह्मण बैठते थे। उनका स्थान सफेद रंग के खम्भों में निर्दिष्ट किया जाता था। ब्राह्मण के पीछे क्षत्रिय बैठते थे। उनका स्थान लाल रंग के खम्भों से चिन्हित किया जाता था। पीछे उत्तर-पश्चिम में वैश्यों के और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के आसन होते थे। अन्य रंग के कुछ और खम्भे भी होते थे। उनके पास जो आसन लगे रहते थे, उन पर वर्णाश्रम के बाहर के लोग बैठते थे। इससे नीचे की आसन श्रेणी के ऊपर एक बरामदा-सा बना रहता था, वहाँ भी आसन पूर्ण प्रकार से चिन्हित एवं विभक्त रहते थे।

नाट्यशालाओं में दूसरा भाग अभिनेताओं के अधिकार में रहता था और इस भाग के पिछले अंश को रंगशीर्ष कहते थे। इस अंश के छः खम्भे और समस्त स्थान का अष्टमांश स्थान रहता था। नाट्वेद के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और अन्यान्य देवताओं की पूजा यहीं पर सबसे पहले की जाती थी।

"नेपथ्य या सज्जागृह में दो दरवाजे रहते थे। रंगमंच कभी-कभी दो मंजिला बनाया जाता था। दूसरे खण्ड में स्वर्ग के दृश्यों का अभिनय किया जाता था। नाट्यशाला के प्रत्येक अंश के निर्माण के समय भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा की व्यवस्था थी। प्रत्येक बार ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था करना आवश्यक समझा जाता था। हीनांग, विकलांग, कुरूप व्यक्ति को नाट्यशाला निर्माण का कोई कार्य नहीं सौंपा जाता था। संन्यासी और यति लोग नाट्यशाला की हद के भीतर पाँव नहीं रख पाते थे। 'जर्जर' या इन्द्रध्वज की स्थापना ही नाट्यशाला सम्बन्धी आवश्यक देवकर्मों में प्रधान समझी जाती थी। उत्सव के पहले दिन संध्याकाल में मंत्र पढ़कर नाट्यशाला में ध्वज को गाड़ा जाता था। ध्वजारोपण के दूसरे दिन सब देवी-देवताओं की पूजा होती थी, पहले क्रमशः ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय आदि की स्थापना होती थी। ध्वज के प्रथम खण्ड में श्वेतवस्त्र, दूसरे में नील वस्त्र, तीसरे में पीला, चौथे में लाल और पाँचवे में विविध वर्ण का वस्त्र लपेटा जाता था। नाट्याभिनय के पूर्व दस अनुष्ठान किये जाते थे। वाद्ययंत्रों आदि का आयोजन अपने दल के बीच वादकों का अवस्थित स्थानग्रहण, संगीत का आरंभ, वाद्य-परीक्षा, कंठस्वर के साथ बाजे का स्वर का मिलना, सारंगी के साथ आवाज मिलाना, विविध बाजे बजाना, ताल विधान, ईश्वर की स्तुति, ये सब व्यवस्थाएँ रंगमंच के बाहर जवनिका की आड़ में की जाती थी। इसके बाद जवनिका उठाकर सूत्रधार रंगमंच पर प्रवेश करता था। फिर नांदी पाठ किया जाता और 'जर्जर' स्त्रोत के कई श्लोक पढ़े जाते थे। तदनन्तर अभिनय का आरंभ होता था।"[11]

ईसा के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व से भारत में नाट्य साहित्य के निर्माण का यह क्रम चलता आ रहा था और यहीं से संस्कृत में (देवभाषा के रूप में) नाटकों की एक सुदीर्घ और समृद्ध परम्परा चल पड़ी।

बौद्धकाल :

बौद्धकाल में यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं से पृथक नाटक का स्वतन्त्र रूप हमारे सामने आने लगता है। बौद्ध साहित्य में हमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। ललित विस्तार में बिम्बसार द्वारा दोन नाग राजाओं के सम्मान में नाटक के आयोजन का उल्लेख मिलता है। आगे यह भी उल्लेख है कि स्वयं बुद्ध की आज्ञा से राजगृह में एक नाटक खेला गया था। बुद्ध के शिष्ट मौद्गलायन और उपतिस्स ने नाटक कौशल का प्रदर्शन करके अनेक लीलाएँ कीं। उस समय कुवलया नाम की एक अत्यन्त सुन्दर नटी थी, जिसका अभिनय कौशल अत्यंत प्रसिद्ध हो गया था। कुछ बौद्ध भिक्षु उसके प्रलोभन में पथभ्रष्ट हो गये। अतः बुद्ध ने उसे कुरूप वृद्धा स्त्री बनाकर उसके पाप का दण्ड दिया। बाद में उसने पाप का प्रायश्चित किया और भगवान बुद्ध की कृपा से वह सतपद को प्राप्त हुई।"[11]

इतना ही नहीं, वैदिक काल से पूर्व भी सिन्धु घाटी की सभ्यता भी इस बात पर प्रका डालती है कि आर्यों से पहले यहाँ शिव की उपासना प्रचलित थी एवं भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत शिव-पूजा का महत्वपूर्ण स्थान था। सिन्धु-घाटी से मिली हुई मुद्राओं में से एक पर एक व्यक्ति के दाहिनी ओर एक चीता व एक हाथी बैठा है, बांई ओर जलहस्ती (RHINCLERUS) तथा भैंस और पीठ के नीचे दो हिरन अथवा बकरियाँ हैं। मार्शल ने इस मूर्ति को 'पशुपति' माना। सिन्धु घाटी की सभ्यता में इस पशु-पति की मूर्ति का प्राप्त होना यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि आर्यों से पहले भारत में पशुपति ही प्रधान देवता थे। इसके अलावा आर्य युग में भी सूर्य, अग्नि, आदि देवताओं की महत्ता कम नहीं हुई थी। सूर्य, सविता, उषस आदि की प्रशंसा और उपासना के महत्व से अनेक ऋचायें भरी पड़ी हैं। नाटक की उत्पत्ति तथा विकास से शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। नटराज, नटेश, महानट, नटनाच आदि शब्दों का प्रयोग इसका ज्वलंत प्रमाण है। मंगलाचरण में 'नान्दीपाठ' शब्द का नान्दी भी उन्हीं के वाहन को ध्यान में रखकर प्रयुक्त हुआ है।

दशरूपककार ने नाट्यवेद की चर्चा के प्रसंग में ताण्डव एवं लास्य को शिव एवं पार्वती से सम्बद्ध कर नाट्य प्रयोग की चर्चा की है।

जातक कथाओं में, जो ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व की मानी जाती हैं, नट, नाटक, समाज और समाज मण्डल आदि के अनेक उल्लेख प्रायः साथ-साथ मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में 'समाज' शब्द के अन्तर्गत भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की उस मनोरंजक कथा से प्रमाणित होता है, जिसमें इन शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है -

"तुम्हाकं आगमनत्थानं
नमरेत्थि तुम्हें गाम निगम राजधानिय
गता समज्जम कत्वा समज्जमंडले
पठाममेव इमं गीतं गायेटयाथा ते
वाराणसि तो निक्खमित्वा तत्था
समाज्जं करोन्ता एकं पश्चन्त गामकं गमिसी
ते तथा समाज्जं करोता पठाममेव गीतकं गायिस।"[13]

यहाँ पर अभिनेताओं को 'नट', नाटक को 'समाज' और रंगशाला को 'समज्जमंडल' कहा गया है।

अश्वघोष जैसे समादृत बौद्ध महाभिक्षु द्वारा 'सारिपुत्रप्रकरण' के समान नाटकों की रचना ई.पू. पहली शताब्दी में सीतावेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में नाट्यशाला का होना, आदि सब बातों से स्पष्ट होता है कि बौद्ध काल में नाटक उक्त दवादी प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित होता रहा, और उसके ऊपर कट्टरपंथी बौद्धों के निषेध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।"[14]

संस्कृतकाल :

संस्कृतकाल के नाटकों की परम्परा को अगर हम लेते हैं तो इसकी परम्परा

ई.पू. पहली शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक चलती रही। वैदिक काल से लेकर लौकिक संस्कृत काल तक प्रायः सभी संस्कृत नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे गये और उन्हीं के काल में उनका सफल मंचीकरण भी हुआ।

वाल्मिकी रामायण में अयोध्या काण्ड के अन्तर्गत रामावन गमन्तु और दशरथ मरण के प्रसंग में अपने मातुल गृह में निवास करने वाले तथा अयोध्या की परिस्थिति से अनभिज्ञ किन्तु अपशकुनों तथा दुःस्वप्नों आदि के कारण अत्यन्त उद्विग्न भरत के मनोविनोद के लिये उनके मित्रों ने जो आयोजन किये, उनमें नाटक भी है।

भरत के अयोध्या लौट आने पर मार्कण्डेय आदि ऋषियों ने अराजकता के दुष्परिणाम सूचित करते हुये नाटकों का उल्लेख किया।

"नराज के जनपदे प्रधष्टनटनर्तकाः
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्द्धना : ।।"[15]

इसके अतिरिक्त बालकांड के अन्तर्गत अयोध्यापुरी का वर्णन पढ़ने से मालूम होता है कि नगर में स्त्रियों के लिये पृथक अनेक रंगशालायें थीं।

"वधुनाटक सधैश्च संयुक्ता सर्व्वतः पुरिम।"[17]

महाभारत में भी हमें विराट पर्व में एक विशाल रंगमंच का उल्लेख मिलता है। इसी पर्व के अन्तर्गत अभिमन्यु-उत्तरा विवाह के प्रसंग में नटों, वैतालिकों, सूतों और मगधों के साथ-साथ नटों का नाम भी आया है। जिन्होंने सम्मानित अतिथियों का अनेक प्रकार से मनोरंजन किया। वनपर्व में धर्म के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने बताया है, कि कीर्ति के लिये हमने समय-समय पर नट नर्तकों को द्रव्य प्रदान किया है। संभवतः इसी काल के आसपास नाट्यकला पर ग्रंथ भी लिखे जाने लगे थे जैसा कि ईसा से आठ या सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनी द्वारा उल्लेखित कृशारब और शिलाली के नट सूत्रों से प्रतीत होता है। यदि शतपथ ब्राह्मण के (13/5/5/3) शिलाली और पाणिनी के शिलाली में कोई अन्तर नहीं हो तो नाट्कला के शास्त्रीय अध्ययन का

प्रारंभ ब्राह्मण काल से ही मानना पड़ेगा।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत में नाट्यकला और रंगमंच ईस्वी सन् से चार सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी और संस्कृत में नाटक निर्विवाद रूप से लिखे जा रहे थे। इसके अनेक प्रमाण यहाँ इस रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे -

1. संस्कृत का आदिकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' है। 'वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में नाटकसंघ द्वारा नाटकों का वर्णन किया गया है।
2. महाभारत में रंगाभिसार के विषद वर्णन से अनुमान होता है, कि महाभारत में भी 'नट' शब्द का प्रयोग हुआ है।
3. महाभारत के थोड़े ही समय बाद लिखे गये 'हरिवंशपुराण' में उल्लेख है, कि राम ने 'रामायण' की कथा का अभिनय किया और नारद ने कृष्ण, बलराम, अर्जुन, सत्यभामा आदि के हावभावों का अनुकरण करके दिखाया।
4. पाणिनी का समय निश्चित रूप से 400 वर्ष पूर्व माना जाता है, और उनके 'अष्टाध्यायी' में नट् कुशीलव जैसे शब्दों का अनुमान होता है। उनके सूत्रों में दो नट-सूत्रकारों के नामों का उल्लेख भी हुआ है।
5. पाणिनी के समय से लगभग 150 वर्ष बाद पतंजली ने 'महाभाष्य' लिखा और नाटक के अभिनय का दृष्टांत दिया। उन्होंने इसमें बालिबंध और कंसवध नामक दो नाटकों का उल्लेख किया।
6. 'विनय-विटक' प्राचीन ग्रन्थ है और उसमें नाटक देखने के उपरांत दो भिक्षुओं के विहार से निर्वसन के दण्ड का उल्लेख है।
7. ईसा से 300 वर्ष पूर्व भद्रस्वामी ने अपने कल्पसूत्र में साधुओं के लिये नाटक देखना के निषेध किया है।
8. सरगुजा की रायगढ़ पहाड़ी में दो गुफाएँ हैं। इसमं सुतनुका नामक किसी देवदासी द्वारा बनवाये गये प्रेक्षागृह और रंगशाला के खण्डहर अभी भी विद्यमान हैं। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार ये गुफाएँ ईसा से 300 वर्ष पहले की

हैं।

9. डॉ. पेटर्सन के अनुसार "कालिदास यदि पहले नहीं तो ईसवी सन के आरंभ के आसपास अवश्य हुए होंगे।" संस्कृत साहित्य में कालिदास के पूर्व सौमिल्ल, कविपुत्र जैसे नाटककारों के होने का उल्लेख मिलता है।

10. दक्षिण भारत में तेरह नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं जो भास की रचनायें मानी जाती हैं। और उनका समय कालिदास से कई सौ वर्ष पहले का है।"[17]

इन सभी प्रमाणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी सन् 400 वर्ष पूर्व से भारत में अच्छे नाटकों की एक सुदीर्घ परम्परा चल पड़ी। संस्कृत साहित्य में भास के नाटकों में 'प्रतिमा', 'अभिषेक', 'कर्णभार', 'उरूभंग', 'बालचरित', 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'चारुदत्त', 'अविमारक' जैसे नाटक थे, वही कालिदास से दसवीं शती तक नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। कालिदास और अश्वघोष का समय भारत में नाट्यकला का मध्ययुग था। कालिदास के सामने भास के नाटकों की पृष्ठभूमि थी। भास की कुछ कमियों को दूर करके संस्कृत नाट्यसिद्धांतों को चर्मोत्कर्ष कालिदास कृत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में मिला।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में काव्य, अभिनय और रंग इन तीनों तत्वों का सामंजस्य मिलता है। उनके दो अन्य नाटकों 'विक्रमोर्वशियम्' और 'मालविकाग्निमित्र' में भी तीनों तत्वों का समावेश है। इसके बाद लगभग दूसरी व चौथी तथा पाँचवी शती में अश्वघोष के 'सारिपुत्तप्पकरण', शूद्रक के 'मृच्छकटिक', दिङ्नाग के 'कुन्दमाला', विशाखवादत्त के 'मुद्राराक्षस', 'विशाखदेव', 'देवीचन्द्रदेव' आदि। भट्टनारायण कृत 'वेणीसंहार', भवभूति के 'उत्तररामचरित' आदि। राजशेखर कृत 'कर्पूरमंजरी' आदि नाटकों की एक लम्बी धारा प्रवाहमान थी। तथा बाद में संस्कृत नाटकों की धारा क्षीण हो गयी, क्योंकि राज्याश्रय की समाप्ति के साथ-साथ रंगमंच भी समाप्त हो गया।

सातवीं शताब्दी में लिखे गये विशाखदत्त के नाटक अत्यन्त महत्व रखते हैं। इसका कारण है कि इसमें जागरुक रंग दृष्टि के साथ साथ नाटक के प्राणतत्वों को भी प्रधानता मिली है।

इसी समय हमें माह का 'शिशुपालवधम्' भी प्राप्त होता है। किन्तु विशाखदत्त के बाद तो भवभूति को ही हम सजग नाटककार के रूप में पाते हैं, इनके तीनों नाटक सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जिसमें मौलिक रंग चेतना और मिथकीय पात्रों के प्रति नवीन दृष्टि का आभास एकसाथ मिलता है। भवभूति के पश्चात इस संस्कृत नाट्य परम्परा में नाटक लिखना कम हो गया, किन्तु फिर भी जो कुछ नाटककार हुए उनकी कृतियाँ रंगमंच की दृष्टि से एकदम महत्वहीन ही थी।

संस्कृत रंगमंच के सातत्व में बाधा का मुख्य कारण उसकी संस्कृतिनिष्ठ साहित्यिक भाषा का प्रयोग नाटकों में होना था। इन क्लिष्ट और कठिन शब्दों का प्रयोग उसे जनता से दूर ले गया, और रंगमंच का विकास स्थिर हो गया। संस्कृत नाटकों में रसोन्मेष, महनीय और आदर्श चरित्रों की अवतारणा, काव्यात्मक वातावरण, नायक की विजय, सुखान्त आशी रसानुकूल, वस्तु प्रकृति, अवस्था और सन्धि के निर्वाह, कथा की सरलता, रंगमंचीय सज्जा, वेश और वचन के विन्यास धर्म, अर्थ, काम के समसेवन पर बल दिया जाता रहा।

दूसरी और बहते नीर की तरह जनभाषा का आधार लेनेवाला लोकमंच सतत विकसित होता चला गया। इस प्रकार रंगमंच के सामने एक तथ्य स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार दृश्यकाव्य में रंगमंचीय उपकरणों का समन्वय आवश्यक है, उसी प्रकार भाषा के स्तर पर नाटक में साहित्यिक और साधारण जनसमूहों की भाषा का समन्वयन भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

लोककला एवं लोकरंगमंच :

संस्कृत रंगमंच के अवसान का कारण सामान्तवर्ग और जनता के बीच की दूरी ही रहा होगा, क्योंकि सामान्य जनता से दूर मात्र राजमहलों या कुछेक विद्वानों तक सीमित रहनेवाली संस्कृत भाषा में लिखित संस्कृत नाटकों का बोझ रंगमंच अधिक दैर तक नहीं ढो सका।

"इन सबके बावजूद एक तरफ तो रंगमंच नाटकों की स्वस्थ परम्परा चलती रही जिसमें रंगशालाओं में नाटकों को खेलने के लिये संस्कृतनिष्ठ भाषाओं का प्रयोग होता था जो साहित्यिक दृष्टि से उच्च वर्ग की होती थी, तथा दूसरी और जनसाधारण की भाषा में रंगमंच पनपता रहा। यह रंगमंच राजाओं के राज्यागृह से निकलकर आम जनता का हो गया जिसे लोकमंच कहा जाता था। यही कारण हो सकता है कि जनता की भाषा के कारण लोकमंच नाटकों की प्रथा का चलन हुआ होगा। भरतमुनि ने भी लिखा है - "लोकधर्म प्रवृत्तानि तानि नाट्य प्रकीर्तितम्"[18] अर्थात् जो शास्त्र धर्म, शिल्प और क्रिया में लोकधर्म प्रवृत्ति है, वे ही नाटक कहे जाते होंगे।

इन लोकनाट्यों का आगमन लोकरंगमंच से पहले भद्र रंगमंच से हुआ जिसमें जनसाधारण का आधार अपने-अपने हर्षोल्लास और चिरंतन का था। "लोक रंगमंच जनसाधारण विशेषत: देहाती जनता के दैनिक जीवन का एक अंग रहा है, और सामाजिक उद्देश्यों का माध्यम। नागरिक रंगमंच विशेष लोगों के मनोरंजन का साधन है, तथा उनके फुरसत के क्षणों का मनबहलाव है। लोकमंच जीवन में उमंग की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है, तथा चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति भी। इसलिये लोकरंगमंच सदा रहा है और रहेगा किन्तु नागरिक और साहित्यिक मंच राजाओं या धनिक वर्ग के आश्रय में व्यावसायिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, और तदनुसार ही जीवित अथवा विलुप्त हो जाता है।"[19]

यह लोक रंगमंच अविरत गति से अपने आप स्वत: ही प्रवाहित होता चला

गया। जिस प्रकार 'अमरबेल' स्वत: ही बढ़ती चलती है, उसी प्रकार लोक रंगमंच भी जनता के रस को खींचकर हमेशा बढ़ता रहा है। आज भी यह रंगपरम्परा हरीभरी है। नृत्य संगीत का वह दौर जनसाधारण के मध्य मनोरंजन वृत्ति बनकर सामने आया और उन्होंने ही उसे विकसित किया।

"लोकनाट्य लोकरंगमंच पर अभिनीत जनजन की वह नाटक वृत्ति है जो नृत्य, गीत और संगीत के साथ जनपदीय रंगमंच पर उन्मुक्त हास के साथ व्यक्त होती आयी है, या नट, लोकरंजन नाट्यवृति में मसखरापन है औड़ जिसे नटकला के रूप में ही रंगमंच पर विश्वास के साथ पूजा गया है।"[20]

लोकनाट्य का सीधा सम्बन्ध सर्वसाधारण से होने के कारण वह शिक्षित, शिष्ट समाज से एकदम दूर चला गया। उनके अपने क्षेत्र थे, अपने-अपने समुदाय अपना एक अलग मनोरंजन का साधन। नृत्य, संगीत को प्रस्तुत करने के लिये उनके पास जो साधारण मंच स्थल था और वही लोक रंगमंच कहलाया।

बलवंत गार्गी ने इसके बारे में कहा है - "मदारी ढोला रखकर गली के नुक्कड़ पर ही डमरू और बन्सी बजाता है। और बरे नाटकीय ढंग से तमाशा शुरु करता है, लोक इकट्ठे हो जाते हैं एक छोटा-सा मंच बन जाता है।"

800 ई. के लगभग अनेक भाषाओं ने साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया था और जनसाधारण से संस्कृत भाषा का नाता लगभग टूट गया। दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा के प्रचार एवं प्रसार से नाट्यों में अंतर आने लगा। वाल्मीकि रामायण में भी लवकुश अपनी मनोहर वाणी से गायन शैली द्वारा महाकाव्य को गा-गाकर जनसाधारण के बीच पहुँचाते हैं। इस कथा गायन को सुनकर दरबार में ऋषि-मुनि आदि तो रसप्लावित हुए ही, साथ ही साथ उनका गायन राजप्रसादों से जनता के बीच भी पहुँचा एवं इस प्रकार कथा का प्रचार हुआ। प्राचीन समय में जो भी

कथावाचक होते थे, वे ग्रामीण जनता के बीच धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ज्ञान के शिक्षक होते थे। देश के कोने-कोने तक इन कथाओं का वाचन और अपना संदेश फैलाने के कारण ये नाटक के अग्रदूत बन गये। ई. पूर्व काल से साँची के भित्ति उत्कीर्णन में इन कथाओं का निरूपण मिलता है। ये कथागायन के साथ नृत्य, संवाद व अभिनय भी करते थे।

पतंजलि के महाभाष्य में 'बालिबन्ध' तथा 'कंस वध' नामक दो नाटकों के प्रदर्शन का वर्णन मिलता है। इसमें नाटकों के अस्तित्व विषयक निर्देश तथा अभिनय, चित्रण पाठ जैसे शब्दों के प्रयोग से भी नाटकीय अभिनय की संभावना होती है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है - "उक्त प्रदर्शन में कंस मारा जाता है और बलि को बाँधा जाता है। आदि में वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। क्योंकि कंस तो कब का मर चुका है, और बलिबन्ध भी बहुत पहले किया गया था। इन तीनों कारणों से हो सकता है कि कंस की मृत्यु एवं बलिबन्ध के दृश्यों से युक्त चित्र प्रदर्शित किये जा रहे हों, ग्रनिथक आपस में कृष्ण भक्तों एवं कंस भक्तों के दो दल बनाकर अलग-अलग रंगों में (काले व लाल रंग से) अपने मुख को रंगकर इसके अभिनय प्रस्तुत करते हों।"[21]

ग्रंथी लोगों के आदि से अंत तक कथा सुनाने तथा कंस व कृष्ण के दलवाले लोगों द्वारा पाठ करने से इन नाटकों की प्रस्तुतिकरण पद्धति का ज्ञान होता है।

प्राचीनकाल से चली आ रही यह परम्परा मध्यकाल में बहुत विकसित हुई। दसवीं शती में नाट्य कलाकारों का एक निश्चित वर्ग चारणों के रूप में सामने आता है। लगभग तीसरी शताब्दी में जातक कथाओं में नट, नाटक और समाज का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। बौद्धकाल की जनता में नाट्यकला के प्रति अभिरुचि थी। अवदान शतकों में नाट्यकला का निर्देश है। सुत्त साहित्य में भी मनोविनोद के अन्य साधनों के साथ नाटकीय प्रदर्शनों का उल्लेख मिलता है। भारत उस समय भी

छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। और इन राज्यों के बीच आपस में अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थी। इस वजह से चारण, लड़ाई में हुई हार या जीत, हर्ष विलाप, वीरों की यशगाथा आदि को गा-गाकर सुनाता था। आगे चलकर इसने व्यावसायिकता का रूप ग्रहण कर लिया तथा त्यौहारों, मेलों, धार्मिक उत्सवों, आदि में स्थान पा लिया था, तथा नगर के चौराहों, गाँवों, खुले मैदाने आदि में इसका व्यापक विस्तार होने लगा।

पहले तो इसमें संस्कृत गायन होता था फिर बाद में कलाकारों ने संवाद पाठन का समावेश किया तथा नटनटी ने इसे जनता के बीच लोकप्रिय बनाने का कार्य किया। झाँकियाँ, शोभायात्राओं की परम्परा भी इसमें चलती रही। सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पर्वों पर तथा युद्ध प्रयाण, राज्यारोहण विजय, यज्ञ आदि अवसरों में भी इसका प्रचलन हो गया। इन जुलूसों, झाँकियों व शोभायत्राओं में सर्व लोग, नृत्यांगनाएँ, राज परिवार के लोग और सर्वसाधारण, सभी-होते थे। रामायण में इसका प्रमाण भी कई जगहों पर मिलता है, कि तब भी लोकनाट्यों का प्रयोजन होता रहा है। बौद्धों और जैनों के धार्मिक ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख आया है।

संस्कृत काल से होती हुई यह लोकनाट्य परम्परा जब पालि, प्राकृत, अप्रभंश काल तक आयी तब तक इसने अपना पूर्ण अधिपत्य जनसाधारण के मध्य जमा लिया था। इसका प्रमाण भी हमें उस समय के अपभ्रंश भाषा के राल, फणु, चर्चरी आदि ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु ऐसा भी नहीं था कि लोकरंगमंच के विकसित होने से संस्कृत नाटकों का लिखना बंद हो गया। कई शताब्दियों तक भी बहुत बड़ी संख्या में संस्कृत नाटक लिखे जाते रहे हैं। प्राचीन काल में ही पारम्परिक रंगमंच पर छाया नाटकों और पुतली नाटकों का प्रदर्शन भी होता था। जिस प्रकार संस्कृत के नाटक 'दूतागंद' को छाया नाटक कह सकते हैं, उसी प्रकार उस समय 'गीतगोविन्द', 'गोपाल केलिचन्द्रिका', 'महानाटक' के प्रस्तुतिकरण की क्या पद्धतियाँ थीं इसका कोई निश्चित पता नहीं था। कई लोक नाट्यों में मुखौटों का प्रयोग भी होता था। शायद उस समय तक मुखौटों का प्रचलन हो गया होगा। किन्तु संस्कृत नाटकों में

इन मुखौटों का उल्लेख नहीं मिलता है। रंगमंच पर इन लोकनाट्यों की श्रेणी कठपुतलियों के तमाशे का हाथ भी रहा। कठपुतलियों को भिन्न-भिन्न आकार का बनाया जाता था तथा उसकी वेशभूषा व्यक्तियों के अनुरूप हुआ करती थी। इन कठपुतलियों के संवादों को स्त्री और पुरूषों की आवाज निकालकर बोला जाता था। इसके साथ रंगमंच के पीछे संगीत भी चलता था। रिजर्वे ने इन कठपुतलियों से सम्बन्धित कथन में कहा है - "पुत्तलिका नाटक और छायानाटक तो वास्तविक नाटक के अनुकरणात्मक प्रदर्शन मात्र हैं।"[22]

लोकमंच में कथागायन की शैली आज भी हमें छत्तीसगढ़ी की रामायण महाभारत की लोकगायन परम्परा में मिलती है। वैसे इसकी भाषा और बोली छत्तीसगढ़ी में होती है। इसमें चारों ओर वादक तथा गायक बैठते हैं, गद्य में कथा चलती है। संगीत भी उसी आधार पर चलता है। गायन और गीत के सम्भाषण में नाटकीयता होती है। प्रधान आख्याता के हाथ में एकतारा होता है एवं नाटक की गति के साथ समय-समय पर वह कभी भी गदा बन जाती है तो कभी धनुष। घुटनों के बल बैठकर आख्याता अश्वारोही की मुद्रा बनाकर रथ हाँकनेवाला सारथी बनता है तो कभी हाथ में तलवार उठाये हुये योद्धा। यह सम्पूर्ण कथा, मूल कथा से भिन्न होती है। किन्तु छत्तीसगढ़ में इसका प्रचलन होने के कारण इसे छत्तीसगढ़ के महाभारत आख्यान की तरह ही प्रस्तुत किया जाता है। आज आधुनिक समय में इस प्रणाली में सर्वप्रमुख नाम तीजनबाई का आता है जिन्होंने इसका प्रचार एवं प्रसार आज सम्पूर्ण भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में जाकर भी किया। इस शैली की परम्परा में पंजा का हीर-रांझा, महाराष्ट्र और राजस्थान के पवाड़े हिन्दी प्रदेश में आल्हा, तामिलनाडु में हरिकथा, कलाक्षेपम, आन्ध्रप्रदेश मे बुर्राकथा अत्यन्त लोकप्रि? है। प्राचीन समय से चली आ रही लोकनाट्य की यह धारा सतत प्रवाहित होती रही और मध्ययुग में तो वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने इस संस्कृति के नवजागरण के आलोक को फैलाने में अहम् भूमिका निभाई। इसका प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पड़ा तो नाटक का क्षेत्र इससे अछूता कैसे रह सकता था ? राम और कृष्ण को लोकरंजन और लोकरक्षक मानकर,

सगुण भक्ति की दो धाराएँ चलीं तथा उनकी भक्ति से ओतप्रोत लीलाओं का वर्णन किया जाने लगा।

"हे महामुनि। अब मैं उस लीलानुकरण की चर्चा करता हूँ जिसके करने या देखकर मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है।"

इस आन्दोलन के समय भगवान की लीलाओं का मंचन सिर्फ मनोरंजन की दृष्टि से नहीं होता था बल्कि उसके पीछे धार्मिक आस्था एवं विश्वास भी था। इसी कारण वे जनता के बीच अनोखा सम्मान व लोकप्रियता प्राप्त कर सके। इन सम्प्रदायों के आ जाने से मन्दिरों और नाट्यशालाओं में पर्याप्त धन की व्यवस्था हो गई।

भगवान की मंगलकामना, नाट्यशाला के बड़े प्रांगण में नाट्य प्रदर्शन, कीर्तन, संगीत, नृत्य आदि को आम जनता तक पहुँचाने में किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा, तथा सम्पूर्ण प्रदेश में भिन्न-भिन्न भाषाओं में अपनी परम्परा के अनुसार यह लोकनाट्य प्रचलित होने लगे।

भक्तिपरक पुरानी रुढ़ियों और उससे सम्बन्धित नियमों का समावेश यहाँ होने लगा। तथा इन भक्तिपरक नाट्यों के प्रभाव से ही वैष्णव साहित्य के गीत और गेय पद सम्पूर्ण भारत में मुखरित हो उठे। बिना खुले हुए दृश्यमंचों का प्रयोग एवं अन्य विशेषताओं को भी इसमें समाविष्ट कर लिया गया। सर्वश्री चैतन्य महाप्रभु जो स्वयं नाटक भी करते थे उन्होंने 'रुक्मिणी हरण' में रुक्मिणी का अभिनय किया तथा देवदासियों को अभिनय का प्रशिक्षण भी दिया व इसका नाट्य प्रदर्शन भी किया। इस काल के अन्त में चैतन्य महाप्रभु के शिष्य और सहयोगियों ने प्रतापरुद्र के आदेश पर जगन्नाथपुरी के मन्दिर में 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक नाटक भी किया। जिसको

रामानन्द राय ने लिखा।

लोक नाटकों में लोकरंचन की विशिष्टता होती है। लोक के बीच, लोक के लिये और लोक द्वारा खेले जाने के कारण यह जनमानस की अपनी चीज होती है। लोकनाट्य रंगमंच का मोहताज कभी नहीं रहा। शायद यही कारण भी रहा है कि यह लोकनाट्य परम्परा आज दूर-दूर तक विभिन्न भाषाओं में जनता के बीच फैली हुई है। इन लोकनाट्यों का स्तर वेशभूषा आदि सभी वस्तुओं में आज परिवर्तन आ चुका है, और उसने एक नये लोकनाट्य का रूप ले लिया है। इन लोकनाट्यों की परम्परा जो संस्कृत आदि भाषाओं के नाटकों की परम्परा खत्म हो जाने के बाद विकसित हुई उसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

संदर्भ सूचि

1.	नाट्य शास्त्र	1/07
2.	कालिदास के रूपकों की भाषा संरचना - रमानाथ पाण्डेय	पृ. 122
3.	वही	
4.	थॉट एण्ड लैंग्वेज	पृ. 119
5.	नाट्यशास्त्र - प्रथम अध्याय - डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र (हिन्दी अनुवाद)	पृ. 71
6.	शत. ब्राह्मण 3/3/2/6 गो. 2/3/3/9	
7.	नाट्यशास्त्र 1/55/56	
8.	वही 1/60/64	
9.	दि कान्सेप्ट ऑफ यज्ञ इन वैदिक सोश्यालॉजी	
10.	नाट्यवेद निवृत्ति - अभिनव गुप्त	पृ. 2-12
11.	नाट्य शास्त्र - भागवत ग्रन्थ	
12.	बुद्धिस्ट इण्डिया	पृ. 114
13.	रिजड़े विडज - बुद्धिस्ट इण्डिया	पृ. 116-120
	पिटरनिल्स हि.इ.लि.जि.	पृ. 58/54/152
14.	डॉ. थियोडोर ब्लाश की रिपोर्ट आन लोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया	पृ. 1903-4
15.	नाट्यशास्त्र 2/65/5	
16.	वही 9/5/92	
17.	स्कंदगुप्त एक विवेचन	पृ. 13-14
18.	लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ - महेन्द्र भानावत सम्मेलन पत्रिका	पृ. 2
19.	जगदीशचंद्र माथुर - सम्मेलन पत्रिका	पृ. 353
20.	पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रंथ - लोककला और गढ़वाली रंगमंच - डॉ. मोहनलाल बाबुलकर	पृ. 32
21.	महाभाष्य - पतंजली	पृ. 2-36
22.	नाटक की उत्पत्ति - आचार्य सीताराम चतुर्वेदी-नाटक और रंगमंच	पृ. 9